श्री कैलासविद्यालोकस्य त्रिंशः सोपानः ।

148

श्रीशङ्करवचनामृतम्

(सान्वयव्याख्यायुतम्)

व्याख्याकारः

महामण्डलेश्वरस्वामीविद्यानन्दगिरिः

प्रकाशक :
प्यारेलाल
सेवानिवृत्त प्रधानाध्यापक,
राजगढ़ (अलवर) राजस्थान
पिन-३०१४०८

चतुर्थावृत्ति १००० सन् १९८१

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ०प्र०)
श्री कैलास आश्रम, उजेली (उत्तरकाशी)
श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार

दो शब्द

अनादिकाल से सभी प्राणियों के मानस में यही नैसर्गिक अभिलाषा रही है, कि हम सम्पूर्ण दुःखों से छूटकर सबसे बड़ा सुख प्राप्त करलें। ऐसी अभिलाषा के विषय को मोक्ष कहते हैं, जिसकी प्राप्ति परमात्मा के अपरोक्ष ज्ञान से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं हो सकती। इसे स्वयं श्रुति कहती है। "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं भविष्यति"॥ अर्थात् जब मनुष्य निरवयव विभु आकाश को चमड़े के समान लपेट सकेंगे तब यह भी आशा की जा सकती है कि परमात्मा को जाने बिना भी दुःखों का अन्त हो जायेगा इत्यादि। ऐसे परमात्म ज्ञान का साधन वेदान्त विचार ही है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अभेद आत्मदर्शी आचार्य के मुखारविन्द से वेदान्त का श्रवण कर मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये। इन्हीं को वेदान्त विचार कहते हैं। जिससे परमात्मा

का ज्ञान होता है। भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य जी ने उपर्युक्त वेदके तात्पर्य को न केवल प्रस्थानत्रयी में सुस्पष्ट किया है अपितु प्रकरणग्रन्थों तथा वेदान्त-स्तोत्रों की रचना करके भी सर्वसाधारण के लिये औपनिषद आत्मज्ञान को सुलभ कर दिया है। जिनका स्वाध्याय एवं विचारकर सभी मुमुक्षुजन सरलता से आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

बहुत दिनों से अध्यात्मजिज्ञासुओं की मांग थी कि जगद्गुरु भगवान आद्य शङ्कराचार्य जी विरचित लघुकायस्तोत्रों की व्याख्या कर उन्हें प्रकाशित कराया जाय। एतदर्थ हमने भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य द्वारा रचित कुछ लघुकायवेदान्त स्तोत्रों का संग्रह सान्वय व्याख्या सहित प्रकाशित कराना आवश्यक समझकर यह प्रयास किया है। आशा है इससे वेदान्तरसिकों को लाभ मिलने के साथ ही प्राथमिक जिज्ञासुओं को भी वेदान्तविचार की ओर आने की प्रेरणा मिलेगी।

भगवत्पादीय :
महामण्डलेश्वर
स्वामी विद्यानन्दगिरिः

विजयादशमी
वि० सं० २०३७

* श्रीगुरवे नमः *

श्रीमज्जगद्गुरुभगवत्पादाद्यशङ्करा-चार्यविरचितस्तोत्राणि ।

प्रातः स्मरणम्

प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं
सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
तत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसङ्घः ॥१॥

प्रातः*—प्रातःकाल
(उसे)
स्मरामि—मैं स्मरण
करता हूँ
तत्—जो
हृदि—प्राणि मात्र के

*संस्कृत शब्दों के आगे डैशों (—) का अर्थ यहाँ बराबर के चिह्नों (=) से लिया गया है ।

हृदय में

संस्फुरद्—संस्फुरण रूप (प्रकाश स्वरूप)

आत्मतत्त्वम्—आत्मा का वास्तविक स्वरूप (असली रूप)

सच्चित्सुखम्—सच्चिदानन्द अर्थात् तीनों काल में रहने वाला, चेतन तथा आनन्द स्वरूप है

परमहंसगतिम्—(नीर क्षीर-विवेक करने वाले हंस के समान) सत्य और असत्य के विवेक करने वाले परमहंस संन्यासियों की परम गति (शरण है)

तुरीयम् — (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति से भिन्न) तुरीय रूप है

नित्यम् — सदा रहने वाला (कभी भी नष्ट न होने वाला)

स्वप्नजागरसुषुप्तम् — स्वप्नादि तीनों अवस्थाओं को

अवैति—जानता है या तीनों को जानता हुआ तीनों से भिन्न है

तद्—वही (जिसे पूर्व कह आया)

निष्कलम्—कलारहित (निरवयव, निराकार)

ब्रह्म—व्यापक परमेश्वर

अहम्—मैं हूँ

न च—न कि

भूतसङ्घः—पञ्चभूतों का पुतला अर्थात् पञ्चभूतों का बना हुआ

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर मैं नहीं हूँ

भाव यह है कि प्रत्येक कल्याणकामी मुमुक्षु को प्रातःकाल उठते ही इस रूप में अपने आपको स्मरण करना चाहिए; देहरूप में स्मरण नहीं करना चाहिए।

प्रातर्भजामि मनसां वचसामगम्यं
वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण।
यन्नेति नेति वचनैर्निगमा अवोचु-
स्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥२॥

प्रातः—प्रातःकाल (सर्व प्रथम मैं)

भजामि—(उसका) चिन्तन करता हूँ (जो)

मनसाम्—मनोवृत्तियों से (और)

वचसामगम्यम्—वाणी से अगम्य है। अर्थात् मनोवृत्ति का भी द्रष्टा होने के कारण उससे जाना नहीं जाता है, तथा वाणी से कहा नहीं जाता है। बल्कि

यदनुग्रहेण—जिस चेतन ब्रह्म के सत्ता स्फूर्ति रूप अनुग्रह से

निखिलाः—सम्पूर्ण

वाचो विभान्ति—वाणी प्रतीत होती हैं एवं

यत्—जिस परमात्म को

निगमाः—ऋग्, यजु साम वेदों ने

नेति नेति वचनैः—दृश्य वर्ग को निषेध करने वाले नेति नेति वाक्यों से

अवोचुः—(किसी-किसी प्रकार) कह पाय

है
तम्—उसी परमेश्वर को (विद्वानों ने)
अजम्—अजन्मा (और)
अच्युतम्—अविनाशी
अग्र्यम्—सर्वश्रेष्ठ
देवदेवम् — दिव्य गुण सम्पन्न देवों का भी देव (महादेव)
आहुः—कहा है
भाव यह है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं मन का प्रकाशक, निषेध मूल से ही वेदों का प्रतिपाद्य, तत्त्ववेत्ता विद्वानों का समाराध्य देव सर्वात्मा परमेश्वर को आत्मभाव से भजन-चिन्तन प्रातः काल उठते ही करना चाहिए।

प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदंजगदशेषमशेषमूर्त्तौ
रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ।।३।।

प्रातः—प्रात:काल (उठते ही उसे)
नमामि—मैं नमस्कार करता हूँ (जो)
तमसः—अज्ञान एवं मायारूप अंधकार से
परम्—अत्यन्त पर अर्थात् विलक्षण है
अर्कवर्णम् — सूर्य के समान स्वयंप्रकाश एवं सबका प्रकाशक
पूर्णम्—सर्वत्र परिपूर्ण
सनातनपदम्—सदा रहने वाला (एवं)
पुरुषोत्तमाख्यम् — पुरुषोत्तम जिसका नाम है।
यस्मिन्—जिस
अशेषमूर्त्तौ — सर्व से अभिन्न सर्वाधिष्ठान परमेश्वर में
इदम्—यह (सामने दीखने वाले)
अशेषम्—सम्पूर्ण
जगत्—जड़चेतन संसार
वै—नि:सन्देह
रज्ज्वाम्—रज्जु में
भुजङ्गम इव—सर्प के जैसे
प्रतिभासितम् — प्रतीत होते हैं।
भाव यह है कि

देशकाल वस्तु परि-
च्छेद शून्य सर्वाभिन्न
सर्वाधिष्ठान अज्ञा-
नान्धकार से विल-
क्षण सर्व का प्रका-
शक, स्वयं प्रकाश
सनातन पुरुष पुरु-
षोत्तम को ही नम-
स्कार करना चाहिए
श्लोकत्रयमिदं पुण्यं,
लोकत्रयविभूषणम् ।
प्रातःकाले पठेद्यस्तु,
स गच्छेत्परमं पदम् ॥४॥

जो कोई भी तीनों
लोकों के भूषण इन
तीनों श्लोकों का
प्रातःकाल सदा पाठ
करेगा वह अवश्य
परम पद प्राप्त
करेगा ।

आत्मपंचकम्

नाहं देहो नेन्द्रियाण्यन्तरङ्गं
नाहंकारः प्राणवर्गो न बुद्धिः ।
दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः,
साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम् ॥१॥

नाहं देहः—मैं स्थूल देह नहीं हूँ (क्योंकि स्थूल शरीर पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का बना हुआ है। अतएव स्थूल देह मैं नहीं और स्थूल देह के धर्म नाम-रूप - जन्म - मरण-स्थूलत्व - कृशत्व मानापमानादि मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं)

न इन्द्रियाणि—चक्षुरादि दश इन्द्रियाँ मैं नहीं हूँ, (क्योंकि ये भी अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के पृथक्-पृथक् सत्त्वांश से पञ्च ज्ञान इन्द्रियाँ

श्रौर रजो अंश से पञ्च कर्मेन्द्रियाँ हुए हैं। अतएव देखना, सुनना, स्पर्श करना, रस लेना, सूंघना बोलना, चलना, पकड़ना, छोड़ना, मलमूत्र का त्यागना इन इन्द्रियों का ही धर्म है, मुझ असङ्ग आत्मा में ये सब अज्ञान से प्रतीत होते हैं)

नान्तरङ्गम्—मैं मन भी नहीं हूँ

नाहङ्कारः—अहङ्कार मैं नहीं हूँ

न बुद्धिः—बुद्धि भी मैं नहीं हूँ (क्योंकि अपंचीकृत पञ्चमहाभूतों के मिले हुए सत्त्व अंश से अन्तःकरण बना है और सङ्कल्प - विकल्प करने से उसी का नाम मन है। मैं - मैं करने से अहङ्कार एवं किसी वस्तु का निश्चय करना रूप व्यापार करने से उसी का नाम बुद्धि पड़ गया है। अतएव काम-क्रोधादि, समझ - बेस -

मभी, सुख-दुखादि इन्हीं के धर्म हैं, मेरे नहीं)।

प्राणवर्गः — प्राणों का समुदाय (भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये प्राण भी अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों के मिले हुए रजो अंश से उत्पन्न हुए हैं अतएव क्षुधा पिपासादि धर्म भी इनके हैं, मेरे नहीं)

दारापत्यक्षेत्रवित्तादिदूरः —स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन, माल, मोटर - गाड़ी इत्यादि से मैं अत्यन्त दूर हूँ। (अतः इनमें मेरी ममता भी नहीं हो सकती है)

अहम्—मैं (तो)

साक्षी—साक्षी

नित्यः — नित्य (सदा रहने वाला)

प्रत्यगात्मा—अन्तरात्मा

शिवः—कल्याण स्वरूप शिव हूँ।

रज्ज्वज्ञानाद् भाति रज्जुर्यथाहिः
स्वात्माज्ञानादात्मनो जीवभावः।

आप्तोक्त्या भ्रान्तिनाशे स रज्जु—
र्जीवो नाहं दैशिकोक्त्या शिवोऽहम् ॥२॥

यथा — जिस प्रकार (मन्द अन्धकार में) रज्ज्वज्ञानाद्—रस्सी के अज्ञान से
रज्जुः—रस्सी (ही)
अहिः—सर्प रूप से
भाति—प्रतीत होने लग जाती है (क्योंकि सर्प उत्पत्ति में तथा सर्प की प्रतीति में रज्जु के अज्ञान के सिवा अन्य सर्प और सर्पिणी इत्यादि एक भी वहाँ पर नहीं है। अतः अज्ञान से रज्जु ही सर्प रूप से प्रतीत होती है, ठीक वैसे ही)
स्वात्माज्ञानाद् — अपने आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा को न जानने से
जीवभावः — जीवभाव अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख दुःख इत्यादि
आत्मनः—आत्मा के ही प्रतीत होने लगते हैं (वस्तुतः ये सब आत्मा में हैं नहीं)
हि—क्योंकि (किसी)

आप्तोक्त्या — यथार्थ वक्ता के कहने से
भ्रान्तिनाशे — भ्रम के नष्ट हो जाने पर
सः—वह सर्प (नहीं रह जाता, किन्तु)
रज्जुः—रस्सी ही शेष रह जाती है (वैसे ही)
दैशिकोक्त्या — श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के उपदेश से
(यथार्थ परमात्म तत्त्व का अपरोक्ष हो जाने पर)
नाहं जीवः—मैं जीव नहीं हूँ अर्थात् पूर्वोक्त कर्तृत्वादि धर्मवाला दीन हीन जीव मैं नहीं हूँ (किन्तु)
अहम्—मैं
शिवः—कल्याण स्वरूप शिव ही हूँ।

आभातीदं विश्वमात्मन्यसत्यं
सत्यज्ञानानन्दरूपे विमोहात्।
निद्रामोहात्स्वप्नवत्तन्नसत्यं
शुद्धः पूर्णो नित्य एकः शिवोऽहम् ॥३॥

सत्यज्ञानानन्दरूपे—सत्य, ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप

आत्मनि—मुझ आत्मा में

असत्यम्—असत्य अर्थात् न होता हुआ भी

विमोहात्—अनादि अज्ञान से

इदं विश्वम्—यह संसार दीख रहा है

निद्रामोहात्—जैसे निद्रा रूप दोष से

स्वप्नवत्—स्वप्न का संसार न होता हुआ भी दीखता है, वैसे ही

तत्—वह (दीखने वाला संसार स्वप्न के समान ही)

न सत्यं—सत्य नहीं है (किन्तु मिथ्या है)

अहम्—मैं (तो)

शुद्धः—माया मल से रहित

पूर्णः—सर्वत्र परिपूर्ण

नित्यः—सदा रहनेवाला

एकः—एक अद्वितीय

शिवः—कल्याण स्वरूप शिव हूँ ।

मत्तो नान्यत्किञ्चिदत्रास्ति दृश्यं
सर्वं बाह्यं वस्तु मायोपक्लृप्तम् ।
आदर्शान्तर्भासमानस्य तुल्यं
मय्यद्वैते भाति तस्माच्छिवोऽहम् ॥४॥

मत्तः—मुझ (एक अखण्ड अद्वैत तत्त्व) से
अन्यत्—भिन्न
किञ्चित्—कुछ भी
दृश्यम्—दृश्य वर्ग (परमार्थतः)
नास्ति—नहीं है (यह)
सर्वम्—सभी
बाह्यम्—बाहर दीखने वाली
वस्तु—वस्तु
मयि—मुझ
अद्वैते—अद्वैत तत्त्व में
आदर्शान्तर्भासमानस्य—दर्पण में भासमान कल्पित पदार्थ के
तुल्यम्—समान
मायोपक्लृप्तम्—अनादि अनिर्वचनीय माया से कल्पित
भाति—प्रतीति मात्र है
तस्मात्—इसलिये
अहम्—मैं (तो)

शिवः—कल्याण स्वरूप। शिव रूप हूँ।

नाहं जातो न प्रवृद्धो न नष्टो
देहस्योक्ताः प्राकृताः सर्वधर्माः।
कर्तृत्वादिश्चिन्मयस्यास्ति नाहं-
कारस्यैव ह्यात्मनो मे शिवोऽहम् ॥५॥

नाहं जातः—मैं जन्मा नहीं हूँ

न प्रवृद्धः—मैं बड़ा या वृद्ध नहीं

न नष्टः—(अतएव कभी मैं) नष्ट नहीं हुआ, न हो सकता हूँ। (किन्तु)

प्राकृताः—प्रकृति से होने वाले

सर्वधर्माः—जन्म, मरणादि, षड्विकार

देहस्य—स्थूल देह के (ही धर्म)

उक्ताः—कहे गये हैं (मेरे नहीं)

कर्तृत्वादिः— कर्तापना, भोक्तापन सुखित्व दुःखित्वादि धर्म

अहङ्कारस्यैव—अहङ्कार

के ही हैं अर्थात् चिदाभास के ही हैं	न हि—नहीं
चिन्मयस्य—शुद्ध चैतन्य स्वरूप	अस्ति—हैं (अतएव)
आत्मनः—आत्मा के	अहम्—मैं (तो)
	शिवः—कल्याण स्वरूप शिव हूँ।

❀❀❀❀

आत्मषट्कम्

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमी न तेजो न वायु-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥१॥

मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि — मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त	क्योंकि अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के मिले हुए सत्त्वांश से एक अन्तःकरण
नाहम्—मैं नहीं हूँ।	

बना है और उसी के व्यापार भेद से ये चार नाम पड़ गये हैं। अर्थात् सङ्कल्प - विकल्प करने से मन निश्चय करने से बुद्धि, अहं अहं व्यापार करने से अहङ्कार और चिन्तन करने से चित्त नाम पड़ गया है।)

श्रोत्रजिह्वे—कान और जीभ

न च—भी मैं नहीं हूँ। (इसलिये सुनना और रस लेना व्यापार भी मेरे नहीं हैं)

घ्राणनेत्रे—नाक और आँख

न च—भी मै नहीं हूँ। (अतएव सूँघना और देखना रूप व्यापार मेरे नहीं हैं। क्योंकि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पृथक्-पृथक् सत्त्वांश से बने हुए हैं। मैं तो भूत कल्पना का अधि-

ष्ठान व्यापक ब्रह्म हूँ।)
व्योमभूमी — आकाश और धरती
न च—भी मैं नहीं हूँ (एवं)
न तेजः—न अग्नि और
न वायुः—न हवा ही (मैं हूँ)
अहम्—मैं (तो)
चिदानन्दस्वरूपः—चैतन्य तथा आनन्दस्वरूप
शिवः—शिव हूँ
शिवोऽहम्—शिव हूँ।
भाव यह है कि मुमुक्षुओं को सदा भूत भौतिक पदार्थों से मैंपन हटाकर सच्चिदानन्द शिव को ही आत्म भाव से सदा चिन्तन करना चाहिये।

न च प्राणवर्गो न पञ्चानिला मे
न वा सप्तधातुर्न वा पञ्चकोशः।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायू
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥२॥

प्राणवर्गः-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पञ्च प्राणों का समुदाय **न च**—मैं नहीं हूँ (क्योंकि ये तो अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के मिले हुए रजो अंश से उत्पन्न अध्यात्म वायु के व्यापार भेद से पाँच नाम पड़ गये हैं। नाभि से उठकर नासिका द्वारा गमनागमन करने से प्राण, नाभि से नीचे मल-मूत्र का अधोनयन करने के कारण अपान, उदरस्थ खाये पीये अन्न जल को समीकरण के कारण समान, कण्ठ में रह कर अन्नादि का विभाग करने के कारण उदान तथा सम्पूर्ण शरीर में रह कर बल प्रदान करने से व्यान नाम पड़ गया है। अतएव)

मे—मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा के

न पञ्चानिलाः — प्राण, अपानादि पञ्च

प्राण वायु तथा नाग, कूर्म, कृकल देवदत्त और धनंजय रूप उपप्राण भी नहीं हैं। (क्योंकि ये सभी प्राण, उपप्राण, अपञ्चीकृत-पञ्च महाभूतों के रजो अंश से उत्पन्न हुये हैं। मैं तो भूतातीत हूँ।)

सप्त धातुः—रस, रक्त, माँस, मेद, मज्जा, अस्थि और वीर्य रूप सात धातु मेरे

न वा—नहीं हैं (क्योंकि ये सब स्थूल देह में ही हैं, सूक्ष्म देह में भी नहीं, तो भला आत्मा में कैसे रह सकते हैं।)

पञ्चकोशः— पञ्चकोश (भी मैं)

न वा—नहीं हूँ (क्योंकि अन्नमयकोश स्थूल शरीर रूप है, प्राण-मय-मनोमय-विज्ञान मय कोश सूक्ष्म शरीर रूप है तथा आनन्दमय कोश कारण शरीर रूप है। मैं पञ्च कोशा-

तीत आत्मा हूँ।)
पाणिपादौ—हाथ, पैर तथा
न वाक्—वाणी इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ
उपस्थपायू—शिश्न तथा गुद भी मैं
न च—नहीं हूँ (क्योंकि ये पञ्च कर्म इन्द्रियाँ भी अपञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के रजो अंश से बने हैं।)
अहम्—(मैं तो)
चिदानन्दरूपः— चेतन आनन्द रूप
शिवः—कल्याण स्वरूप शिव हूँ
शिवोऽहम्—शिव हूँ।

न मे रागद्वेषौ न मे लोभमोहौ,
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥३॥

रागद्वेषौ—राग और द्वेष

न मे—मुझ विशुद्ध चैतन्य आत्मा में नहीं हैं (क्योंकि इष्ट वस्तु में राग और अनिष्ट वस्तु में द्वेष होता है, जो कि अन्तःकरण का धर्म है । मेरा कोई भी इष्टानिष्ट नहीं है, फिर राग द्वेष मुझ में क्यों होने लगे ।)

लोभमोहौ—लोभ और मोह अर्थात् ममता भी

न मे—मुझ में नहीं हैं

(क्योंकि अन्य व्यक्ति के पास रही हुई वस्तु को अन्याय से लेने की इच्छा का नाम लोभ है तथा अपने पास प्राप्त वस्तु की ममता का नाम मोह है। ये भी मन के ही धर्म हैं। मैं तो आप्त काम आत्मा हूँ। अतः लोभ मोह मुझमें नहीं हो सकते। अज्ञान जन्य भ्रान्ति के कारण मन के धर्म मुझ में भान होते थे वे सब

अज्ञान के साथ ही
नष्ट हो गये ।)
मदः—अहंकार अर्थात्
गर्व
मे मुझ विशुद्ध आत्मा
में (कभी भी)
न एव—नहीं आ सकता
(क्योंकि यह तो
अनात्माभिमान से
हुआ करता है)
मात्सर्यभावः — ईर्ष्या
भाव (भी मुझमें)
नैव—नहीं है (क्योंकि
यह परोत्कर्ष को न
सहने के कारण हुआ
करता है, मुझसे
भिन्न कोई नहीं है

फिर ईर्ष्या कैसे हो)
(शास्त्र विहित
कर्मानुष्ठान से धर्म
उत्पन्न होता है, जो
अर्थ और काम का
जनक है एवं
निष्काम भाव से
किये जाने पर अन्तः-
करण शुद्धि का
कारण है। वह)
न धर्मः—धर्म भी मुझ
में नहीं है (यह भी
कर्म जन्य होने से
विकारी मन का ही
है, मुझ निर्विकार
आत्मा का नहीं है)
अर्थः—धन, पुत्रादि इस

लोक तथा स्वर्गादि लोक के विषयों को अर्थ कहते हैं, वह अर्थ भी

न च—(मुझे आवश्यक) नहीं है

कामः—शरीरेन्द्रियों में अधिकाधिक विषयों के भोगने की शक्ति तथा तज्जन्यसुख को काम कहते हैं, वह काम भी मुझे

न—नहीं चाहिये (क्योंकि मैं सुखरूप हूँ)

मोक्षः—कारण सहित त्रिविध दुखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष भी मुझे

न—नहीं चाहिये (क्योंकि मैं नित्यमुक्त)

चिदानन्दरूपः— सच्चिदानन्दस्वरूप

शिवोऽहम्—शिव हूँ

शिवोऽहम्—शिव हूँ ।

(जब मुझमें वन्धन ही नहीं तो मुक्ति की क्या आवश्यकता है।)

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं,
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदो न यज्ञः ।

अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता,

चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥४॥

न पुण्यम्—मुझमें पुण्य नहीं एवं

न पापम्—पाप भी नहीं है (क्योंकि शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान से पुण्य तथा शास्त्र निषिद्ध कर्मानुष्ठान से पाप होता है। जब मुझ विशुद्ध आत्मा में कर्तृत्व नहीं, तो कर्मजन्य पुण्य पाप मुझमें कैसे रह सकेंगे।) एवं मुझमें

न सौख्यम्— अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति तथा उपभोग जन्य सुख भी नहीं है।

न दुःखम् — प्रतिकूल पदार्थ की प्राप्ति एवं तदुपभोग जन्य दुःख भी मुझमें नहीं है। (क्योंकि ये भी साभास अन्तःकरण के ही धर्म हैं, मुझ निर्विकार आत्मा के

नहीं है।)
न मन्त्रः- मेरे लिये कोई मन्त्र नहीं
न तीर्थं—तीर्थं नहीं
न वेदः—वेद नहीं एवं
न यज्ञः—यज्ञ भी नहीं हैं (क्योंकि ये सब साधन अपवित्र को पवित्र करते हैं। मैं सदा पवित्र--शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूँ। अतः ये सब मुझमें नहीं हैं।)
अहम्— (अतएव) मैं
भोजनम्— प्रिय, मोद तथा प्रमोद वृत्ति भी
नैव—नहीं हूँ (क्योंकि ये मन के परिणाम हैं)
भोज्यम्— प्रिय आदि वृत्ति की उत्पत्ति के निमित्त इष्ट वस्तु नहीं हूँ अथवा प्रिय आदि मनोवृत्ति में आनन्दाभास भी मैं नहीं हूँ। (किन्तु उस प्रतिबिम्ब का बिम्ब भूत सुख मैं हूँ।)
न भोक्ता—भोक्ता भी मैं नहीं हूँ (क्योंकि सुख,दुःखादि भोग का आश्रय ही भोक्ता

कहलाता है, सुखादि का साक्षी भोक्ता नहीं कहा जाता। अतः साभास अन्तः करण ही भोक्ता है। मैं तो भोक्ता, भोज्य और भोजन इस त्रिपुटी का साक्षी शुद्ध चेतन हूँ।)

चिदानन्दरूपः— चेतन, आनन्द स्वरूप
शिवः—कल्याण रूप शिव
अहम्—मैं हूँ
शिवोऽहम्—शिव मैं हूँ
(इस प्रकार मुमुक्षुओं को सदा चिन्तन करना चाहिये।)

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
नबन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥५॥

मे—मुझ नित्य अमर आत्मा में
मृत्युशङ्का— मरने की शङ्का

न—नहीं है, क्योंकि प्राण वियोग का नाम ही मरण है। मुझमें प्राण का संयोग ही न हुआ तो फिर प्राण का वियोग कैसे हो सकेगा। अतः स्थूल देह का ही मरण होता है। एवं)

मे—मुझ व्यापक आत्मा में

जातिभेदः—मनुष्य, पशु पक्षी आदि या ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि जाति भेद भी

न—नहीं है।

(क्योंकि यह जाति भेद भी स्थूल देह में ही है, सूक्ष्म देह तथा कारण देह में भी नहीं है, तो फिर देहातीत आत्मा में कैसे जाति भेद रह सकता है)

पिता—पिता-जनक भी

नैव—मुझ नित्य आत्मा के नहीं हैं। एवं

माता—माता-जननी भी

मे नैव—मेरे नहीं हैं

(क्योंकि जो जन्य

है उसी के जननी-जनक हो सकते हैं। अतः ये भी देह के ही हैं, आत्मा के नहीं।)

न जन्म—मेरा जन्म भी नहीं होता (क्योंकि जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु है। मैं तो अजन्मा-अविनाशी नित्य आत्मा हूं।)

न बन्धुः—मेरे भाई भी नहीं हैं (क्योंकि समान माता पिता से उत्पन्न हुए व्यक्ति का ही भाई हो सकता है। मुझ अजन्मा का नहीं)

न मित्रम्— मेरे मित्र नहीं हैं। (क्योंकि परस्पर हितचिंतक का नाम मित्र है। अतएव मेरे शत्रु भी नहीं हैं। न मेरे कोई हित - अहित चिन्तक हैं न मैं किसी का हूं, मैं तो उदासीन आत्मा हूं।

गुरुः—हित का उप-देशक, मार्ग दर्शक

एवं
शिष्यः—गुरु भक्त रूप शिष्य भी
नैव—मेरे नहीं हैं, (क्योंकि अद्वितीय आत्मा में गुरुत्व शिष्यत्व भी अज्ञान से कल्पित ही हैं।

अतः)
चिदानन्दरूपः — चेतन आनन्दरूप
शिवोऽहम् —शिव ही मैं हूँ।
शिवोऽहम् —शिव ही मैं हूँ।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो,
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणि।
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः,
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥६॥

अहम्—मैं विशुद्ध चैतन्य मायातीत आत्मा
निर्विकल्पः — विकल्प

का विषय नहीं हूँ (क्योंकि कुछ विशेषण होने पर ही

कल्पना हो सकती है। निर्विशेष में कोई कल्पना नाम, रूप, गुण, क्रिया सम्बन्ध इत्यादि की बनायी नहीं है।) तथा

निराकाररूपः— आकार वाला भी मैं नहीं हूँ, (क्योंकि माया के कार्य आकाश में भी आकार नहीं है, तो मायाधिष्ठान चेतन में आकार कैसे हो सकेगा। मैं तो आकाशादि में भी)

विभुः—व्यापक हूँ अर्थात्

सर्वेन्द्रियाणि — व्यष्टि रूप से सभी इन्द्रियों में तथा

सर्वत्र—समष्टि रूप से सभी देशकाल में

व्याप्य—व्याप्त होकर स्थित हूँ। (कार्य की अपेक्षा कारण व्यापक माना जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण माया है और वह

माया अपने कार्य
भूत, भौतिक पदार्थों
में व्याप्त है पर।
माया भी तो ब्रह्म
के किसी एक देश
में ही है। यहाँ पर
निरवयव में देश की
कल्पना समझाने के
लिये है, वस्तुतः
नहीं है।)

सदा–सदा तीनों काल में
मे—मुझ शुद्ध चेतन में
समत्वम्— समभाव है
(विषमता की गन्ध
मात्र भी नहीं है।)

न मुक्तिः— मुझमें मुक्ति
नहीं है। (क्योंकि मैं
सदा मुक्तरूप हूँ,
नित्य मुक्त आत्मा
में अज्ञान से कर्तृ-
त्वादि बन्धन प्रतीत
होता था। जब मुझ
चिन्मात्र आत्मा में
अज्ञान ही नहीं है
तो फिर)

न बन्धः—बन्धन भी
नहीं। (जब बन्धन
नहीं है, तो मुक्ति की
भी क्या आवश्यकता
अतः नित्य मुक्त आत्मा
में बन्ध तथा मोक्ष
कल्पित है।)

चिदानन्दरूपः— चेतन,
आनन्द

शिवः—कल्याण स्वरूप
शिव हूँ

शिवोऽहम्–मैं शिव ही हूँ।

॥ श्रीगुर्वष्टकम् ॥

शरीरं सुरूपं तथा वा कलत्रं,
यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥१॥

कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि कीर्तिः,
गृहं बान्धवाः जातिमेतद्धि सर्वम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥२॥

षडङ्गादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या,
कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥३॥

विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्यः,
सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः ।

गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।४।।

क्षमामण्डले भूपभूपालवृन्दैः,
सदासेवितं यस्य पादारविन्दम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।५।।

यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापात्,
जगद्वस्तु सर्वं करे यत्प्रभावात् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं;
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।६।।

न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ,
न कान्तामुखे नैव वित्तेषु चित्तम् ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ।।७।।

अरण्ये न वा स्वस्य गेहे न कार्ये,

न देहे मनो वर्तते मे त्वनर्घ्ये ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥८॥

अनर्घ्याणि रत्नानि मुक्तानि सम्यक्,
समालिङ्गिता कामिनी यामिनीषु ।
गुरोरङ्घ्रिपद्मे मनश्चेन्न लग्नं,
ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥६॥

गुरोरष्टकं यः पठेत्पुण्यदेही,
यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही ।
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं,
गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥१०॥

॥ इति श्रीगुर्वष्टकं समाप्तम् ॥

———

188

श्री कैलास विद्या प्रेस
श्री ब्रह्मानन्द आश्रम,
मुनि-की-रेती ऋषिकेश (उ०प्र०)